

## न्यायपालिका और गरीब

अगर किसी से भी यह पूछा जाए कि देश की न्यायपालिका के दरवाजे तक सही मायने में कितने लोग पहुंच पाते हैं? तो निःसंदेह ! उत्तर होगा "आधे से भी कम"। वजह— हमारी न्यायिक व्यवस्था। जिसे गुलामी के दिनों में अंग्रेजों ने अपने लिए बनाया था। अंग्रेजों की न्यायिक व्यवस्था ने हमेशा से आम आदमी को इंसाफ दिलाने के बजाय अंग्रेजों का साथ दिया ताकि भारतीय उनके गुलाम बने रहें। यही वजह है कि न्यायिक प्रक्रिया के लिए न केवल अंग्रेजी भाषा इस्तेमाल की गई बल्कि उसे इतना जटिल बना दिया गया है कि आम आदमी वकीलों की मदद के बिना तो वहां तक पहुंच ही नहीं सकता। ड्रेस कोड भी जानबूझकर आम आदमी के दिलों में व्यवस्था के लिए खौफ पैदा करने के लिए बनाया गया था। किसी भी अपराध के लिए दोषी ठहराए गए आदमी के लिए खुद को बचा पाना नामुमकिन है। वह पूरी तरह से पुलिस और न्यायपालिका की दया पर निर्भर है, क्योंकि उसे तो कोर्ट की भाषा समझ में आती नहीं, तो 'कोर्ट' अकेले ही सारी प्रक्रिया निपटा लेता है। इससे भी कड़वा सच तो यह है कि देश की इतनी बड़ी आबादी के लिए बनाई गई न्यायिक व्यवस्था केवल कागजों पर ही नजर आती है। ऐसी व्यवस्था गरीबों को इंसाफ दिलाने का साधन हो ही नहीं सकती।

70 के दशक के उत्तरार्द्ध में जब जस्टिस भगवती—कृष्ण अय्यर ने जनहित याचिका की परम्परा बनाई, तक यह सोचा गया था कि एक ऐसा यंत्र है जो गरीब की रोजी—रोटी और अधिकारों की रक्षा के लिए स्वयं नागरिकों द्वारा ही सर्वोच्च अदालत की भूमिका निभाई जाए और न्यायालय गरीबों के अधिकारों की रक्षा के लिए आम जनता की ओर से काम करे। तभी सर्वोच्च न्यायालय ने मौलिक अधिकारों को विस्तार से परिभाषित किया। यह परिभाषा खासकर संविधान के अनुच्छेद—21 में दिये गए 'जीवन के अधिकार' के संबंध में थी। अनुच्छेद 21— में 'सम्मान से जीने का अधिकार' शामिल किया गया और सम्मानपूर्वक जीने के लिए भोजन, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि जैसी बुनियादी जरूरतें पूरी होनी चाहिए।

इसलिए 80 के दशक में लीक से हटकर भी कुछ फैसले लिए गए। बेगार पर रोक, कामगारों के लिए न्यूनतम मजदूरी, बंदीकरण सुरक्षा के अधिकार, पागलखानों में सुरक्षित परिस्थितियां, बेघर—फुटपाथियों के अधिकार आदि कई मुद्दों पर न्यायालय ने सकारात्मक रवैया अपनाया। लेकिन 90 के दशक में उदारीकरण के युग में गरीबों के प्रति उच्च न्यायालयों का रूख धीरे—धीरे बदलता गया। अब तो यह आलम है कि न्यायालय आम आदमी के लिए जीविका, आवास, आजादी आदि सुविधाएं मुहैया कराने के लिए सरकार को निर्देश देने से भी पीछे हट रहे हैं। यहां तक कि अपने ही दिये हुए पुराने निर्णयों को ही नकार रहे हैं। वे निर्णय जो गरीबों के लिए आवास, भोजन, स्वास्थ्य और शिक्षा के कोई प्रबंध न होने की वजह से पूर्व में न्यायपालिका द्वारा दिये गए थे।

आज गरीब आदमी 'नव आर्थिक उदारीकरण' की नीतियों की मार झेल रहा है। उसकी जमीन, पानी और रोजी—रोटी राज्य द्वारा कब्जाई जा रही हैं ताकि सबकुछ बड़ी—बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और धन्ना—सेटों की खनन, सेज और दूसरे बड़े—बड़े प्रोजेक्टों, आदि के लिए दी जा सकें। ऐसे में न्यायालयों को उन गरीबों की मदद के लिए आगे आना चाहिए था, जिनके अधिकार छीने जा रहे हैं। गरीबों के लिए कुछ करना तो दूर, न्यायालय उन संस्थाओं और लोगों की आवाज भी नहीं सुन रहे हैं, जो इन गरीबों के लिए न्याय की गुहार लगा रहे हैं।

न्यायालयों में आजकल गरीब विरोधी निर्णयों का तो फैशन ही चल पड़ा है। मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग द्वारा दायर किए जनहित मुकदमों में जो न्यायालय गरीब—पक्षधर सकारात्मक रूख अपनाते थे, दुर्भाग्यवश आज वे ही अपने फैसलों से गरीबों से आवास, व्यवसाय, रोजी और यहां तक कि आजादी भी छीन रहे हैं। बहुत से मामलों में तो देखा यह जा रहा है कि कोर्ट गरीबों को नोटिस तक देने की जहमत नहीं उठा रहे हैं, जिनके घरों को उनके फैसले पर उजाड़ दिया गया, रोजी छीन ली गई है और आजीविका एक ही पल में मिट्टी कर दिए गए और इस सबको 'कानून का शासन' नाम का जामा पहनाया जा रहा है। अमीरों को साफ—सुथरा पर्यावरण देने के कानून के लिए शासन के नाम पर गरीबों को सरकारी जमीन पर बने उनके मकानों में रहने से रोका जाता रहा है। जैसे कि दिल्ली और मुंबई में हमने देखा कि एक ओर तो उच्च—मध्यम वर्ग की कॉलोनियों के पास बनी गरीबों की झुग्गियों की उजाड़ दिया गया तो दूसरी ओर दिल्ली की सड़कों से साइकिल और रिक्शा चलाने वालों को महज इसलिए हटा दिया गया, ताकि मध्यम और उच्च वर्ग के अमीरजादों को कार में घूमने का रास्ता साफ/क्लियर मिल सके।

ऐसा लगता है कि इन निर्देशों के पीछे 'कोर्ट' और सरकार की मिलीभगत है, क्योंकि सरकार दिल्ली में यमुना पुश्ता पर बनी झुग्गियों को हटाना चाहती थी ताकि उस जमीन पर फाइव स्टार होटल और शॉपिंग माल्स बनाए जा सकें। सरकार में इतना दम नहीं था कि वह राजनीतिक रूप से इन झुग्गियों को हटाती। वजह, चुनाव में हर पांच साल बाद वोट भी तो लेने होते हैं। सो इसने न्यायपालिका के कंधे पर रखकर बंदूक चलाई, क्योंकि न्यायपालिका लोकतांत्रिक या अन्य किसी भी तरह से, किसी भी प्रकार के संस्थान के प्रति जवाबदेह नहीं है। यह बड़ी आसानी से ऐसे आर्डर पास कर सकती थी, खासकर तब; जबकि फैसले इस वर्ग (न्यायपालिका के इलीट वर्ग) के भी अनुकूल थे। पिछले कुछ सालों से जिस तरीके से कामगारों और मजदूरों के लिए बने कानूनों को बिगाड़ा है। उससे सरकार और न्यायपालिका की जालसाजियों की सारी पोल खोल दी है।

जैसे ही आर्थिक नीतियों का उदारीकरण किया गया और विदेशी कंपनियों को भारत में दुकानें खोलने के लिए बुलाया गया तो उद्योगों ने श्रम कानूनों को भी कम करने के लिए कदम उठाए और हवाला दिया कि देश को नए श्रम सुधारों की जरूरत है। इन सुधारों से श्रमिकों को मिली हुई सुरक्षा खत्म हो जाएगी और उन्हें अपने मालिकों की दया पर जीना होगा।

इसके बाद की सरकारों के लिए श्रम कानूनों को खत्म करना जरा मुश्किल था क्योंकि वे सभी वामपंथी पार्टियों के सहयोग पर निर्भर थीं या फिर उन्हें कामगारों और गरीबों से अगले चुनावों में वोट न मिलने का भी खतरा था। लेकिन तभी फिर से 'न्यायपालिका' में

सुविधाजनक रास्ता खोज लिया गया और न्यायपालिका ने बड़ी ही सफाई से मजदूरों की सुरक्षा के लिए बने कानूनों पर अपनी कैंची चला दी। इन कानूनों की नई परिभाषाएं देकर गरीब मजदूरों को कर्ज और मुफ्तलिसी की जिंदगी के जीने का फरमान सुना दिया। 'कांटेक्ट लेबर एक्ट' तो एक तरह से खत्म ही हो गया है, क्योंकि एक के बाद एक मुकदमे होने के बावजूद भी न्यायालय इसे लागू करने से इनकार कर रही हैं। सर्वोच्च न्यायालय तो इनसे भी एक कदम आगे चला गया और कहा कि 'न्यायालय अपनी राज्य सरकार की आर्थिक नीतियों के अनुसार श्रम कानूनों को परिभाषित कर सकती हैं।'

इसी तरह सर्वोच्च न्यायालय की एक अन्य बेंच ने भी सरकार के उस फैसले को उचित ठहराया जिसमें उसने मॉरिशस में रजिस्टर्ड किसी 'एक पोस्ट बॉक्स कम्पनी' को 'इण्डो-मॉरिशस डबल टैक्सेशन अवाइडेंस एग्रीमेंट' का लाभ उठाने की अनुमति दे दी और इस तरह भारत को कोई भी टैक्स न देने का रास्ता साफ कर दिया। अब यह भारत में काम कर रही सभी विदेशी कंपनियां इसी रास्ते पर चल रही हैं। इसका मतलब यह हुआ कि अब सरकार ऐसे आदेश देकर कम्पनियों को कर से छूट दे सकती है। यह तो एक व्यवस्थित संसदीय-प्रक्रिया का भी माखौल है क्योंकि संसद केवल वित्त विधेयक द्वारा ही करों में छूट आदि के कानून बना सकती है।

नक्सलियों, माओवादियों या फिर मानव अधिकारों के लिए लड़ने वालों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं के मामलों में भी न्यायालयों का अनुदारवादी और फासीवादी रूख नजर आ रहा है। राज्यों ने जिन लोगों को नक्सलवादी और माओवादी करार दिया, उनकी अपीलों के साथ जिस तरह न्यायालय ने व्यवहार किया और जिस तरीके से समाजसेवी डॉ. विनायक सेन की जमानत नामंजूर की, वह सब इस बात की तरफ इशारा करता है कि कुछ न्यायाधीशों ने फासीवादी रूख अपनाने का मन ही बना लिया है।

अब यह बात साफ हो गई है कि अब न्यायपालिका गरीबों पर अत्याचार करने, भयभीत करने और यहां तक कि गरीबों से सबकुछ छीन लेने वाला तंत्र बनकर रह गई है। वह भी आम-जन को डराने और अत्याचार करने वाली संस्था बन गई है। ठीक वैसे ही जैसे पुलिस और नौकरशाही; आज विदेशी कंपनियों के पिटू बनकर आम आदमी पर अत्याचार कर रहे हैं।

न्यायपालिका के जन-विरोधी रूख के लिये दरअसल इसका ढांचा ही जिम्मेदार है। इसमें वर्गीय प्रतिनिधित्व, चयन की प्रक्रिया और सदस्यों का स्थायित्व आदि कई खामियों ने न्यायपालिका को जनता की पहुंच से दूर कर दिया है। सर्वोच्च न्यायालय में ज्यादातर जज ऊंची जाति और उच्च मध्यम वर्ग से आते हैं। इसलिए गरीबों के प्रति सहानुभूति तो शायद ही उनके मन में होती है। न्यायाधीशों की चयन प्रक्रिया में ही अपारदर्शिता, निरंकुशता और भाई-भतीजावाद चलता है। जो व्यक्ति या अधिवक्ता उनके संघ के साथ मेल नहीं खाता और शासक वर्ग के साथ जिसका तालमेल नहीं है उसे चयन की प्रक्रिया से ही बाहर कर दिया जाता है। 1993 में न्यायपालिका ने संविधान की नई व्याख्या करके जजों की नियुक्ति की प्रक्रिया को कार्यपालिका के हाथों से छीन लिया और कार्यपालिका से स्वयं को 'मुक्त' करने के लिए न्यायपालिका ने सब किया। यह सब किया आजादी के नाम पर लेकिन गौर किया जाए तो इस सबसे न्यायपालिका की न तो स्वतंत्रता बढ़ी है; न ही न्यायपालिका में कोई सुधार ही हुआ है।

अब देश की जनता के लिए समय आ गया है कि वह वर्तमान न्यायिक व्यवस्था और उस प्रक्रिया के खिलाफ आवाज उठाए, जिससे वह गरीबों को न्याय और अधिकारों की रक्षा करने के बजाय अत्याचारी शासक बन गई है।

न्यायपालिका के सभी पक्षों और सारी कारगुजारियों को ध्यान में रखकर और विमर्श करके ही यह निर्णय लिया जाना चाहिए कि अब क्या किया जाए, इसी को ध्यान में रखते हुए गरीब और न्यायपालिका पर चर्चा के लिए यह सभा आयोजित की गई है। इस सभा में हम न्यायपालिका के ढांचे, कार्यों, कार्यवाहियों और व्यवहार पर विस्तार से चर्चा करेंगे। यह चर्चा खासतौर पर गरीबों के प्रति न्यायपालिका के व्यवहार पर होगी। चर्चा में न्यायपालिका के कार्यों में बदलाव लाने वाले, ढांचागत परिवर्तनों का जवाब दूढ़ने की कोशिश की जाएगी ताकि न्यायपालिका आम आदमी के अधिकारों को लागू और रक्षा करने वाली बनें। इन परिवर्तनों को लागू करने के लिए हमें अफसरों पर दबाव डालने के लिए एक अभियान और राजनीतिक स्ट्रेटेजी बनाने की जरूरत है।

हमें उम्मीद है कि जन आंदोलनों के प्रतिनिधि, ग्रासरूट संस्थाएं और दूसरे वे सभी लोग जो देश में न्यायपालिका की हालत पर चिन्तित हैं, इस सभा में जरूर भागीदारी करेंगे।

प्रस्तुत आलेख के पूर्व प्रेषित पत्र में हथियार शब्द के इस्तेमाल के बजाय आवाज शब्द का इस्तेमाल ज्यादा उपयुक्त होता, हथियार शब्द के इस्तेमाल के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।